

डियर्डेन तर्कशील स्वायत्तता विकसित करना शिक्षा का एक मुख्य उद्देश्य मानते हैं। इस उद्देश्य के महत्त्व से पूरी तरह सहमति न हो मगर इस पर तो कोई दोराय नहीं है कि शिक्षा को इस दिशा में जरूर बढ़ना चाहिए कि वह लोगों को तर्क के आधार पर सोच-समझकर फैसले लेने की काबिलियत हासिल करने में मदद करे। स्कूली पाठ्यचर्या में क्या शामिल किया जाए और उसके आधार क्या हों कि बच्चे स्वायत्तता की दिशा में अग्रसर हों। यह लेख उपरोक्त उद्देश्य की रोशनी में सही पाठ्यचर्या विकसित करने की दिशा में बढ़ने के लिए मदद दे सकता है। यह लेख डियर्डेन की पुस्तक 'द फिलॉसॉफी ऑफ प्राइमरी एज्युकेशन' से लिया गया है।

समझ के स्वरूप

आर. एफ. डियर्डेन

आधारभूत प्रश्न : तर्कशील चयन के आधार में समझ के कौन से रूप निहित होते हैं ? इसका जवाब इस प्रकार दिखाई देगा: गणितीय, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, सौंदर्यपरक और नीतिशास्त्रीय रूप। परन्तु तर्कशील चयन के इन आधारभूत तत्वों से पाठ्यचर्या निर्धारण पर पड़ने वाले संभावित प्रभावों की और जांच-पड़ताल से पहले हमें चार बातों पर एहतियात के साथ एक राय बना लेनी चाहिए : (1) यहां 'समझ के स्वरूप' का क्या आशय है ? (2) वह कौन-सा सिद्धांत है जिसकी कसौटी पर समझ के विभिन्न स्वरूपों में भेद किया जाता है ? (3) किस अर्थ में ये स्वरूप चयन में 'मूलभूत' तत्व होते हैं ? (4) भावनाओं से उनका क्या संबंध होता है ?

समझ के स्वरूप : सबसे पहली बात तो यह है कि किसी चीज की समझ होने और उसके बारे में महज कोई जानकारी होने के बीच फर्क अच्छी तरह समझ लिया जाए। हालांकि इस बात को ध्यान में रखना होगा कि दोनों ही एक-दूसरे में शामिल होते हैं। ज्ञान की एक व्यापक प्रचलित समझ यह है कि ज्ञान अलग-थलग तथ्यों का एक ऐसा समूह है जिसे कमोबेश उसी मौखिक रूप में रट लिया जाता है, जिस रूप में उन्हें सीखा गया था। यह सोच प्रारंभिक स्कूल परंपरा में काफी गहरी जड़ें जमाए हुए है। इसे ज्ञान का 'झोला दृष्टिकोण' कहना ज्यादा ठीक होगा, क्योंकि झोले के भी कम से कम दो पहलू इस दृष्टिकोण में दिखाई देते हैं। झोला आमतौर पर पीछे लटका कर रखा जाता है और वह कमोबेश भरा हुआ हो सकता है। इस तरह ज्ञान का झोला दृष्टिकोण ऐसे ज्ञान को भी उपयोगी सूचना के समकक्ष ला खड़ा करता है और क्योंकि केवल उसकी उपयोगिता ही उसके अर्जन को प्रासंगिक बनाती है इसलिए उसे सत्य मानने के आधार बहुत महत्वपूर्ण नहीं रह जाते हैं। यानी, बस इतना ही काफी है कि आप के पास साधिकार वह ज्ञान हो, जैसे अध्यापक के पास होता है। यह सारी व्याख्या प्रारंभिक शिक्षा की सामान्य निरंकुशतावादी भावना के लिए बहुत अनुकूल पड़ती है।

जब 1931 की रिपोर्ट में ज्ञान का अवमूल्यन करते हुए इसे 'अर्जित किए जाने वाले ज्ञान और संकलित किए जाने वाले तथ्यों' की संज्ञा दी गई थी तो इसके पीछे निश्चय ही ज्ञान की यह झोला दृष्टि रही होगी। यही दृष्टि बहुत सारे बालकेंद्रित सिद्धांतकारों में भी दिखाई देती है, क्योंकि वे भी 'विषयों' और उनके बीच 'सख्त खानाबंदी' की कृत्रिमता पर बड़ी नाक-भौं सिकोड़ते रहे हैं। कहने का मतलब यह नहीं है कि ज्ञान का कोई मूल्य नहीं होता, क्योंकि अपने आप में जानी हुई बात होने के कारण इस बयान में तो फौरन एक प्रत्यक्ष विरोधाभास पैदा हो जाता है; बल्कि हम यह कहने का प्रयास कर रहे हैं कि स्व-निर्देशित क्रियाशीलता से मिलने वाले आनंद की तुलना में ज्ञान कोई भव्य चीज नहीं होती। लिहाजा, ज्ञान अर्जित करने की प्रक्रिया को 'बर्तनों पर ढक्कन चढ़ाना'; 'तथ्यों पर कलई चढ़ाना' और 'वाचिकता' कहकर उसे कमतर दिखाया

लेखक परिचय

इंग्लैण्ड के जाने-माने शिक्षा दार्शनिक, इंस्टीट्यूट ऑफ एज्युकेशन, लंदन में प्रोफेसर के पद पर कार्यरत रहे।

पुस्तक : द फिलॉसॉफी ऑफ प्राइमरी एज्युकेशन, एज्युकेशन एण्ड रीजन, एज्युकेशन एण्ड डवलपमेंट ऑफ रीजन, क्रिटीक ऑफ करंट एज्युकेशनल एम्स, प्रोब्लम्स ऑफ प्राइमरी एज्युकेशन, रीजन, थियरी एण्ड प्रैक्टिस इन एज्युकेशन।

जाता है और बताया जाता है कि इसके नतीजे में हमें ऐसे एकांगी व्यक्तित्व मिल रहे हैं जिनकी दुर्बलताएं सिर्फ प्रश्नोत्तर कार्यक्रमों और परीक्षाओं में ही उजागर हो पाती हैं।

और यह भी कि स्व-निर्देशित बच्चे यों भी जब चाहे सूचना हासिल कर सकते हैं क्योंकि, पहली बात, उनके पास ज्ञान के प्रति सही रवैया होता है, भले ही उस समय उनके पास वास्तव में ज्ञान न हो और दूसरी बात, उन्होंने यह सीख लिया है कि चीजें कैसे सीखी जाती हैं और अब उन्हें जरूरत पड़ने पर इस सार्वभौमिक सूचना अर्जन क्षमता का बस सटीक प्रयोग भर करना होता है। मोटे तौर पर इस निपुणता में संदर्भ पुस्तकों की उपयोगिता व उनके वर्गीकरण का ज्ञान तथा विषयसूचियों व सारणियों को बूझने की एक निश्चित दक्षता शामिल होती है।

बहरहाल, न तो ज्ञान की यह सूचनापरक दृष्टि और न ही इसके विरुद्ध आने वाली बालकेंद्रित प्रक्रियाएं उस समझदारी की ओर बढ़ती दिखाई देती हैं, जिसकी व्याख्या इस पुस्तक में की जा रही है। कुछ लोग तो तथ्यों के ऐसे जमावड़े को 'ज्ञान' का नाम तक नहीं देना चाहेंगे। मिसाल के तौर पर, प्रोफेसर शेफलर ने लिखा है कि 'ज्ञान के लिए केवल सत्य सूचना को पाना और स्वीकार कर लेना ही काफी नहीं होता। इसके लिए यह भी जरूरी है कि शिक्षार्थी संबंधित सूचना की सत्यता के प्रति अपनी आश्वस्ति का अधिकार स्थापित करे। संक्षेप में, वक्तव्यों के जरिए नई सूचना संप्रेषित की जा सकती है; नया ज्ञान नहीं (शेफलर, 1967, 106)।

शेफलर जिन दो चीजों के बीच इतनी सावधानी से फर्क दिखाने की कोशिश कर रहे हैं उनमें भ्रम इसलिए पैदा होता है क्योंकि आम बोलचाल में दोनों को ही 'ज्ञान' माना जाता है और अगर वे साधिकार किसी के पास हों, जैसे अध्यापक के पास होती हैं, तो उन्हें सत्य की आश्वस्ति से लैस भी मान लिया जाता है। यह मानने में कोई हर्ज नहीं है कि किसी-न-किसी बिंदु पर इस अधिकार से भी विच्छेद होना चाहिए: अध्यापकों को यह संपदा प्रोफेसरों से मिलती है, प्रोफेसरों को अपनी पुस्तकों से मिलती है, पुस्तकें शोध पत्रिकाओं पर आश्रित होती हैं और शोध पत्रिकाएं ऐसे लोगों द्वारा लिखी गई थीं, जिन्होंने वाकई कभी मौके पर जाकर चीजों को समझा-बूझा था। लेकिन बच्चों को इन शोधकर्ताओं के बारे में कुछ पता नहीं चलेगा; उन्हें जो पढ़ाया गया है, उसे 'जानने' के लिए उन्हें शोधकर्ताओं के बारे में जानने की जरूरत भी नहीं होगी।

लेकिन, अगर हम मान लें कि शेफलर सिर्फ बोलचाल की भाषा का हवाला नहीं दे रहे हैं, बल्कि हमें यह हिदायत दे रहे हैं कि व्यक्तिगत स्वायत्तता को भारी महत्त्व देने के लिए ज्ञान को किस तरह देखा जाना चाहिए तो उनकी हिदायत को मानने में कोई दिक्कत नहीं है।

अगर हम व्यक्तिगत स्वायत्तता को महत्त्व देते हैं तो यह वाजिब ही है कि व्यक्ति को सिर्फ वही नहीं सोचना चाहिए जो सोचने का औरों ने अधिकारपूर्वक उसे निर्देश दिया है। उसे या तो अपने बूते पर चीजों का पता लगाना चाहिए या कम से कम पर्याप्त रूप से इतना शिक्षित होना चाहिए कि वह अधिकारियों को केवल तात्कालिक माध्यम माने और उसे जो बताया गया है, उसकी तार्किकता के बारे में खुद भी अधिकारियों जैसा ही आकलन विकसित करे, क्योंकि बताने को तो उसे न जाने कितनी चीजें बताई गई होंगी।

सूचनाओं के एक ढीले-ढाले ढेर के रूप में न तो ज्ञान की झोला दृष्टि और न ही सही रवैया व सार्वभौमिक रूप से उपयोगी सूचना अर्जन निपुणता को पर्याप्त मान लेने से चीजों को खुद जानने या जो हमें बताया गया है, उसका एक तर्कसंगत आकलन बनाने की पूरी संभावना पैदा हो सकती है। झोला दृष्टिकोण अधिकारियों पर निर्भरता को प्रोत्साहन व बल देता है जबकि 'सही रवैया' की सोच में इस आशय की एक भोली-सी सोच हावी रहती है कि केवल अपनी आंखें खोलकर रखने या किताब में लिखे काले अक्षरों को पढ़ते जाने से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। चीजों को समझने में मस्तिष्कीय संरचनाएं व अनुभव के तरीके शामिल होते हैं, जो क्रमशः एक अवधि में तथा किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा दी गई शिक्षा के जरिए ही हासिल हो पाते हैं, जिसके पास इस तरह की समझदारी मौजूद है।

इस तरह की संरचनाएं दो तरह से मिलकर बनती हैं: (क) आपस में जुड़ी अवधारणाओं व सांगठनिक सिद्धांतों की व्यवस्थाओं से, तथा (ख) विभिन्न विचारों की सत्यता, औचित्य या पर्याप्तता को तय करने की प्रमाणीकरण प्रक्रियाओं से। जैसे ही आप इस तरह की समझ की अगली परतों को उघाड़ते हैं तो पता चलता है कि ये कोई एकल, एकात्म समग्र नहीं है बल्कि इसमें भी बिलकुल अलग और गैर-मनमाने बहुत सारे रूप निहित हैं। इस अर्थ में ज्ञान कोई सीवनविहीन लबादा नहीं होता, बल्कि बहुरंगी टुकड़ों का बना कोट होता है। 'जीवन से कटा' होने के बजाए वह इसके बहुत निकट होता है, इसलिए धीरे-धीरे खुद अपने आप से संबंधित विचारों, 'जीवन' और 'विश्व' की हमारी अपनी सोचों को भी बदलता चला जाता है।

ये वक्तव्य अभी काफी हद तक रहस्यवादी दिख रहे हैं। इन संकेतों पर हम और विस्तार से अध्याय छः में अनुभव की चर्चा करते हुए बात करेंगे। मगर, इस बीच प्राथमिक स्कूल के स्तर पर दो उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर सकते हैं। प्रारंभिक स्कूल परंपरा में 'अंकगणित' को ऐसे 'अंक संबंधों' के समूह के रूप में देखा जाता था जिनको याद कर लिया जाना है। इसके अलावा उसमें जोड़-घटा की कुछ

पद्धतियां होती थीं जिनका बच्चों को अभ्यास कराया जाता था। इसी तरह हमने पहाड़े और लंबे गुणा 'करना' सीखा: 'सबसे पहले एक शून्य रखो, फिर...'। दूसरा उदाहरण प्रकृति के अध्ययन का लिया जा सकता है। जिसमें मुख्य रूप से बातचीत या किताबों में आने वाले नाना पेड़-पौधों व पशुओं के नाम और उनके जीवन से संबंधित तथ्यों को सीखने पर जोर दिया जाता था।

लेकिन समझ की संरचनाओं के लिहाज से हम अंक अवधारणाओं और अंकगणित

के आधारभूत नियमों तथा इन अवधारणाओं व सिद्धांतों पर पकड़ बनाने के दौरान सीखी गई प्रक्रियाओं के रूप में सोचें तो ज्यादा बेहतर होगा। इससे इन चीजों पर पकड़ बनाए रखने और बाद में उन्हें औरों को सिखाने व इस्तेमाल करने में ज्यादा महारत की उम्मीद की जा सकती है। और प्रकृति के वर्गीकरण पर आधारित तथा हमेशा अप्रत्यक्ष अध्ययन के बजाय चीजों को खुद देखने और आजमाने से ज्यादा लंबी सफलताओं की उम्मीद की जा सकती है। ऐसे में बच्चे पौधे उगाएंगे, अलग-अलग परिस्थितियों के फर्क समझेंगे और चीजों को माप-जोख कर देखेंगे। यहां भी इस बात को दोहराना जरूरी है कि इस तरह की पद्धति में भी कम से कम ऐसी अवधारणाओं और सिद्धांतों को पकड़ने की शुरुआत हो जाती है, जो असली चीजों के प्रेक्षण से ही बंधी नहीं होतीं।

स्वरूपों के भेद : इस चर्चा का दूसरा बिंदु इस सिद्धांत से संबंधित है कि समझ के विभिन्न स्वरूपों में किस आधार पर फर्क किया जाता है। इसमें कोई शक नहीं कि ज्ञान को नाना प्रकार से श्रेणीबद्ध किया जा सकता है (देखें, फीनिक्स, 1964)। परंतु हमने जो वर्गीकरण किया है वह हर्स्ट (1965) द्वारा सुझाई गई व्यवस्था के अनुरूप है, क्योंकि हमारा वर्गीकरण विशिष्ट प्रकार के अर्थ व प्रमाणीकरण प्रक्रियाओं या यों कहें कि संबंधित अवधारणाओं और तर्कों की किस्म पर आधारित है। यहां 'तर्क' का अर्थ इस आशय की कारकता व्याख्या से नहीं है कि कोई व्यक्ति किसी खास विश्वास को क्यों पकड़े हुए है बल्कि प्रमाणीकरण के उस विचार से है जो उस विश्वास को पकड़े रहने के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है। इस तरह, समझ के जो अलग-अलग रूप सामने आते हैं, उनके भीतर इन दो सवालियों का जवाब देने के अपने-अपने तरीके हैं कि 'आपका क्या अभिप्राय है ?' और 'आप यह कैसे जानते हैं ?' और प्रत्येक किस्म के पास अपनी तरह की 'आलोचनात्मक सोच' व अपनी सृजनशीलता होती है।

● अगर हम व्यक्तिगत स्वायत्तता को महत्त्व देते हैं तो यह वाजिब ही है कि व्यक्ति को सिर्फ वही नहीं सोचना चाहिए जो सोचने का औरों ने अधिकारपूर्वक उसे निर्देश दिया है। उसे या तो अपने बूते पर चीजों का पता लगाना चाहिए या कम से कम पर्याप्त रूप से इतना शिक्षित होना चाहिए कि वह अधिकारियों को केवल तात्कालिक माध्यम माने और उसे जो बताया गया है, उसकी तार्किकता के बारे में खुद भी अधिकारियों जैसा ही आकलन विकसित करे। ●

इन सवालों का उत्तर देने के लिए लोगों ने समझ के कौन से वास्तविक स्वरूप विकसित किए हैं, इसे उस ज्ञान की पड़ताल से ही हासिल किया जा सकता है, जो अब हमारे पास है, न कि किसी बेतुके प्रागनुभविक (a priori) तरीके से। शुरू में हमने प्राथमिक स्कूल को ध्यान में रखते हुए ऐसे पांच स्वरूपों का जिक्र किया था। अब हम इन पांचों पर अलग-अलग चर्चा करेंगे। यहां हम सिर्फ इन सारे स्वरूपों की संक्षिप्त व्याख्या ही दे पाएंगे लेकिन, अगर हम इन सबकी बहुत परिपूर्ण व्याख्या

का भी प्रयास करते तो भी यह अनकहा ही रह जाता कि जिन्होंने लंबे अनुभव के आधार पर समझ के इन अलग-अलग स्वरूपों के बारे में अपने तरीके विकसित किए हैं, उनकी 'निहित' समझ क्या थी (देखें, पोलान्ची, 1958)। एक आखिरी हिदायत : अभी हम इस बात पर चर्चा नहीं कर रहे हैं कि प्राथमिक स्कूल के बच्चों को कैसे या किस क्रम में इन अलग-अलग समझ के स्वरूपों से अवगत कराया जा सकता है बल्कि हम केवल यह दिखाने की कोशिश कर रहे हैं कि इन अलग-अलग समझ के स्वरूपों का विशिष्ट स्वरूप कैसा है।

(क) गणितीय स्वरूप : अंक, वर्ग मूल, अभाज्य (प्राइम) अंक, भिन्न, पूर्ण एवं फलन आदि गणित की अपनी विशिष्ट अवधारणाएं होती हैं हालांकि इन शब्दों में से कुछ का अन्य संदर्भों में अलग अर्थ व प्रयोग भी हो सकता है। गणित की अपनी प्रमाणीकरण प्रणालियां होती हैं, जैसे, जो सिद्ध किया जाना है उसकी अनिवार्यता का चरणबद्ध प्रदर्शन। अक्सर हमारे पास इस काम के लिए बहुत सारी प्रणालियां उपलब्ध होती हैं। मसलन, $23 \times 12 = 276$ को दर्शाने के लिए आप समय की बचत या सुंदरता की दृष्टि से $23 \times 12 = (23 \times 2) \times 6$, या $= 23 \times (10 + 2)$ या ऐसी ही कोई और प्रणाली अपना सकते हैं।

गणित की प्रमाणीकरण प्रणालियां अनुभववादी नहीं होतीं। वे कभी भी दुनिया के प्रेक्षण या किसी प्रयोग पर आधारित नहीं होतीं, बल्कि संबंधित स्वयंसिद्ध वक्तव्यों व परिभाषाओं द्वारा निर्धारित आंतरिक व्यवस्थाओं से प्रदर्शित होती हैं। अगर $6 + 4 = 10$ है तो इसका कारण यह नहीं है कि हमें अनुभव ने ऐसा सिखाया है; हालांकि, इसके अपवाद मिल सकते हैं। यदि अनुभव के स्तर पर 6 चीजों और 4 चीजों के मिलाने से 12 चीजें अस्तित्व में आ जाती हैं तो भी $6 + 4 = 10$ के गणितीय समीकरण में तर्कदोष नहीं दूँदा जा

सकता। यह स्थिति सिर्फ यह दिखा पाती है कि कहीं हमने कोई गड़बड़ी जरूर की होगी। संभव है कि चीजों के समूहों को सही ढंग से न गिना गया हो या हमने कुछ चीजों को दो बार गिन लिया हो या संभव है कि चीजें अस्थिर रही हों। लिहाजा, गणित के स्वरूप को 'पर्यावरण अध्ययन' की तरह देखना बेहद भ्रामक होगा जैसा कि *प्राइमरी एजुकेशन इन स्कॉटलैंड* (1965, अध्याय 20) में दिखाया गया है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि गणित की शिक्षा लाजिमी तौर पर उसके तार्किक रूप से सर्वाधिक बुनियादी तत्वों से ही शुरू होनी चाहिए।

भौतिक जगत में गणित के प्रयोग को स्थापित करने के लिए गणित की गैर-आनुभविक प्रणाली के लिए यह जरूरी हो जाता है कि तमाम सहायक परंपराओं को अपनाया जाए और मान्यताओं का सहारा लिया जाए। मान लीजिए कि, हमसे यह पूछा जाता है कि क्या कक्षा 1 में कक्षा 2 के मुकाबले ज्यादा चीजें हैं। अंकों की अवधारणा के इस सरल उपयोग के लिए भी इस परंपरा का पालन करना जरूरी है कि किन तत्वों को 'चीज' के रूप में गिना जाना चाहिए: अलग-अलग फर्नीचर ? देह ? चॉक के टुकड़े व किरचें ? अणु ? यथार्थ दुनिया में रेखागणित के प्रयोग के लिए भी हमें कुछ प्रचलित परंपराओं का पालन करना पड़ता है जो हमें बताती हैं कि यथार्थ जगत में किसे 'बिंदु' (पेंसिल की नोक का निशान ?) या 'रेखा' (क्या फुट्टे की किनारी ?), या एक 'धरातल' (क्या मेज का तख्ता ?) माना जाएगा। अगर आपको चीजें मापनी हैं तो न केवल आपके पास लंबाई, समयावधि, कोण, भार, परिमाण, गति या क्षेत्रफल जैसे माप के आयामों की सही अवधारणा होनी चाहिए बल्कि आपको उस परंपरा का भी पालन करना होगा जो बताती है कि किसी आयाम को मापने के लिए सबसे सुविधाजनक इकाई क्या होगी ?

भौतिक जगत पर गणित के सिद्धांतों को लागू करने की पूरी प्रक्रिया में चीजों की स्थिरता के बारे में भी हमें कुछ मान्यताएं लेकर चलना होगा। अगर चीजें लगातार बंटती या आपस में घुलती जा रही हैं, जैसे खिड़की पर पड़ती बरसात की बूंदें या अगर आकृतियां लगातार मुड़ती-तुड़ती रहती हैं तो ऐसी स्थितियों में गणित के सिद्धांतों का प्रयोग बहुत कठिन या असंभव हो जाएगा। वास्तविक जगत की ऐसी अस्थिरताओं को दर्शाते हुए आपको सटीकता के लिए लगातार समायोजन करते रहना होगा क्योंकि कोई योजनाकार कागज या फटे का इस्तेमाल इस सटीकता के बिना नहीं कर सकता। कोई पूर्णतया स्थिर नहीं है। (देखें, गैसकिंग, 1953)।

(ख) विज्ञान : गणितीय प्रणालियों की तरह विज्ञानों में भी उनकी अपनी अन्तर्संबंधित अवधारणाएं होती हैं, हालांकि उनके शब्दों का भी किसी दूसरे संदर्भ में कोई और अर्थ हो सकता है। इस तरह

की अवधारणाओं में परमाणु, चुंबकीय क्षेत्र, कोशिका, तंत्रिका-तंतु, व्यापार-चक्र, कुनबा, एकांत और पुनर्पुष्टि जैसी बहुत सारी अवधारणाएं आ जाती हैं। अगर बेहद सुनियोजित ढंग से रखा जाए तो वैज्ञानिक परिकल्पनाओं के प्रमाणीकरण की प्रक्रिया का मतलब यह निगमित करने से होता है कि उस परिकल्पना के आधार पर आप किन परिणामों की उम्मीद कर सकते हैं और यह देख सकते हैं कि परिणाम वाकई वैसे मिले हैं या नहीं। इस प्रेक्षण में सहायता देने के लिए उपकरणों और प्रेक्षण को नियंत्रित करने के लिए प्रयोगों का सहारा लिया जा सकता है।

अगर चीजें वाकई ऐसी हैं तो भी नियमतः आपकी परिकल्पना 'सिद्ध' नहीं होती क्योंकि इस तरह का प्रेक्षण किसी दूसरी परिकल्पना का भी परिणाम हो सकता है। लेकिन अगर यह पता चलता है कि चीजें अपेक्षा के अनुरूप नहीं आ रही हैं तो पहले व्यक्ति की गई कम से कम कुछ मान्यताएं जरूर निरस्त हो जाती हैं। जब बेहद अमूर्त सिद्धांतों का मसला आता है तो सिद्धांत से प्रेक्षण तक का चरण बहुत लंबा और विस्तृत हो सकता है, यहां तक कि उसमें अलग-अलग श्रेणियों के वैज्ञानिकों का भी सहारा लेना पड़ सकता है; मगर, अंततः कहीं एक ऐसा बिंदु जरूर आना चाहिए जहां यथार्थ प्रेक्षण की कसौटी पर सिद्धांत सिद्ध या निष्फल हो जाएगा।

स्वरूप के धरातल पर वैज्ञानिक तर्कशीलता का एक बड़ा हिस्सा गणितीय किस्म का होता है, मगर इसका यह मतलब नहीं है कि विज्ञान भी बस एक तरह का गणित ही होता है। विज्ञान में गणित का केवल इस्तेमाल किया जाता है। मान लीजिए कि, मैं एक निश्चित अवधि के दौरान गिरते हुए पत्थर के वास्तविक वेग (velocity) का पूर्वानुमान करना चाहता हूं। इसके लिए मैं $s=ut+16t^2$ समीकरण से शुरू करके विभेदीकरण की तरफ जा सकता हूं जिससे $ds/dt=u+32t$ मिल जाता है और अंत में चरान्कों के स्थान पर दिए गए मानों को प्रतिस्थापित कर दूंगा जिससे मुझे यह पता चल जाएगा कि स्थिर अवस्था से शुरू करके वह पत्थर 3 सेकेंड बाद 96 फुट/सेकेंड की गति से गिरने लगेगा। यहां दो परस्पर असंबद्ध सवाल आ खड़े होते हैं: (1) क्या यह गणित सही है ? (2) इन निष्कर्षों से जिन अपेक्षाओं का जन्म हुआ था क्या वे अपेक्षाएं प्रेक्षण के बल पर सिद्ध हो गई हैं ? यदि अपेक्षा की पुष्टि नहीं होती है तो आपका गणित चाहे कितना ही धारदार हो, आप जिस मूल नियम को लेकर चले थे, वह गलत सिद्ध हो चुका है या प्रस्तुत उदाहरण में उसको आजमाते हुए आपने कुछ गलत धारणाओं का सहारा लिया है। विज्ञान में सत्य की कसौटी गणितीय सटीकता नहीं बल्कि प्रेक्षण होता है।

लेकिन वैज्ञानिक खोज हमेशा प्रेक्षण से शुरू नहीं होती। अगर हम

प्रेक्षणों से शुरू करने का प्रयास करते तो किस चीज का प्रेक्षण करते ? क्या बस एक कागज-कलम लेकर इधर-उधर देखते और नोट्स बनाने लग जाते ? क्या एक मनोवैज्ञानिक बस कुछ चूहों को पिंजरे में रखकर इस बात का इंतजार करने लगेगा कि 'देखें क्या होता है' ? क्या प्रासंगिक होगा ? क्या प्रेक्षण-योग्य होगा ? इस आशय की यह समझदारी खूब प्रचलित है कि वैज्ञानिक खोज तो बस एक संयोग होता है जो किसी के साथ भी घट सकता है। भला इसमें क्या शक है कि जब सेब गिरा था तो संयोगवश ही न्यूटन उस पेड़ के नीचे बैठे थे! हो सकता है यह संयोग हो, मगर असली मसला यह है कि वहां संयोग से कोई और नहीं बल्कि न्यूटन ही थे और वह कोई रामू-श्यामू नहीं थे बल्कि एक ऐसे प्रेक्षक थे जो खास समस्याओं में खोया हुआ है और ऐसी समस्याओं में खोया हुआ है जो केवल उन लोगों को ही समझ में आने वाली हैं जो शोध की एक खास परंपरा से निश्चित हद तक अवगत हैं। जैसा कि ब्रूनर ने कहा है, 'आश्चर्य की तरह खोज भी पहले से तैयार मस्तिष्क को ही चुनती है' (ब्रूनर, 1965, 607)।

विज्ञान हमारे भौतिक जगत और हमारी ज्ञानेन्द्रियों के बीच स्वच्छंद मिलन का नतीजा नहीं है, बल्कि अनुसंधानों के एक लंबे सिलसिले का फल है। जैसे-जैसे अनुसंधान विकसित होता है, किसी सिद्धांत को परखने का मामला जटिल होता जाता है क्योंकि प्रेक्षण-आधारित परीक्षण में भी सिद्धांत छिपे होते हैं, मसलन चाक्षुक, शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धांत। परंतु इस तरह की मुश्किलें मोटे तौर पर स्कूली शिक्षा की प्रारंभिक अवस्था के बाद ही आती हैं। लेकिन उस चरण में भी अपनी अपेक्षाओं की बेहद बुनियादी परख तक लक्ष्य से भटक सकती है। 'तांबा' चुंबकीय गुणों से लैस दिख सकता है (स्टील की ड्रॉइंग पिन पर तांबे की कलई चढ़ी हुई है) या स्टील का कोई टुकड़ा विद्युतीय सुचालक नहीं हो सकता है (क्योंकि उस पर रोगन किया गया है)।

(ग) इतिहास : गणित और विज्ञान को तो मानक प्रमाणीकरण प्रणालियों और इसलिए 'वस्तुनिष्ठता' का निर्णायक उदाहरण माना जाता है। लेकिन जब हम इतिहास, कला और नीतिशास्त्र की दुनिया में आते हैं तो इनके अवयवों को चिह्नित करना इतना स्पष्ट और आसान नहीं रहता। लिहाजा, इस तरह की समझ के बारे में विवरणात्मक हो जाना, उन्हें 'ठोस तथ्यों' के लिए अक्षम बताना,

उन्हें किसी 'नियम' से रहित और फलस्वरूप 'व्यक्तिनिष्ठता' की रेल-पेल कहकर घूरे पर ढकेल देना बहुत आसान लगने लगता है। लेकिन सवाल यह है कि हर चीज को उन्हीं कसौटियों पर क्यों कसा जाए जो गणित और विज्ञान के लिए सही दिखाई दे रही थीं ? यहां अरस्तू की उस हिदायत को दोहराना वाजिब रहेगा जो उन्होंने *निकोमेकियन एथिक्स* की अपनी पहली पुस्तक में दी थी। उन्होंने कहा था कि पढ़ा-लिखा व्यक्ति वही है, जो हर विषय में केवल उतनी सटीकता की तलाश करे जितनी उस विषय में संभव है।

इतिहास सिर्फ अतीत का अध्ययन नहीं है। यों तो भूगर्भशास्त्र, जीवाश्मविज्ञान और मनुष्य का प्राक-इतिहास भी अतीत के ही मसले तो हैं। मोटे तौर पर इतिहास हमारे सामने मौजूद बचे-खुचे साक्ष्यों के आधार पर खास मानवीय क्रियाओं व गतिविधियों का

एक वृत्तांत गढ़ने का विज्ञान होता है। यह क्रांति जैसी खास तरह की घटनाओं के बारे में सामान्य नियम गढ़ने से संबंधित किसी आधे-अधूरे समाजशास्त्र की कोई शाखा नहीं है (ड्रे, 1957, अध्याय 2)।

इतिहास में मनुष्यों की क्रियाओं और गतिविधियों का वर्णन किया जाता है इसलिए इसमें यह मान्यता बना ली जाती है कि अधिकांशतः मनुष्य तर्कशील ढंग से ही काम करते हैं। इस तरह, विशेष रूप से गढ़ी गई सैद्धांतिक अवधारणाओं के बजाय मानवीय प्रेरणा की साधारण अवधारणाएं उस वृत्तांत को अर्थ प्रदान करती हैं। उदाहरण के लिए, जब कला

इतिहासकार हमें यह सूचना देता है कि सोलहवीं सदी के दौरान ज्यादातर उत्तरी यूरोप के चित्रकार हॉलबेइन की तर्ज पर पोर्ट्रेट बनाने लगे थे और जब वह इस परिवर्तन को सुधार आंदोलन (reformation) का नतीजा बताता है और कहता है कि यह परंपरा चित्रों को मूर्तिपूजा के समकक्ष देखने के विरुद्ध थी तो हम फौरन समझने लगते हैं कि उस समय के चित्रकारों को कौन-सी चीजें नई दिशा में बढ़ने के लिए प्रेरित कर रही थीं। जो चित्रकार अब तक भव्य प्रतिमाएं और धार्मिक चित्र बनाकर अपनी रोजी-रोटी चला रहे थे, अब उन्हें दूसरे तरीकों से अपनी आजीविका का बंदोबस्त करना पड़ रहा था और वे रईसों के चित्र जैसे आपत्तिजनक विकल्प अपनाने लगे थे (गॉम्ब्रिच, 1966, अध्याय 18)। इस बात को समझने के लिए हमें विशेष नई अवधारणाओं की जरूरत नहीं है। पहले से मौजूद अवधारणाएं ही इस काम के लिए काफी हैं। लेकिन यहां

● गणित की प्रमाणीकरण प्रणालियां अनुभववादी नहीं होतीं। वे कभी भी दुनिया के प्रेक्षण या किसी प्रयोग पर आधारित नहीं होतीं, बल्कि संबंधित स्वयंसिद्ध वक्तव्यों व परिभाषाओं द्वारा निर्धारित आंतरिक व्यवस्थाओं से प्रदर्शित होती हैं। अगर $6+4=10$ है तो इसका कारण यह नहीं है कि हमें अनुभव ने ऐसा सिखाया है; हालांकि, इसके अपवाद मिल सकते हैं। यदि अनुभव के स्तर पर 6 चीजों और 4 चीजों के मिलाने से 12 चीजें अस्तित्व में आ जाती हैं तो भी $6+4=10$ के गणितीय समीकरण में तर्कदोष नहीं ढूंढा जा सकता। ●

‘सोलहवीं शताब्दी’, ‘सुधार आंदोलन’ जैसे शब्दों को खालिस ऐतिहासिक अवधारणाओं के रूप में देखा जा सकता है।

ऐतिहासिक वृत्तांतों के लिए प्रमाणीकरण की प्रणालियां भी इतनी आसानी से नहीं बनाई जा सकतीं कि सब उन्हें समझ सकें या लागू कर सकें। यहां हम स्मारकीय अभिलेखों, सिक्कों, दस्तावेजों, इमारतों, बरतनों, पुस्तकों, हथियारों आदि ‘ठोस तथ्यों’ का हवाला देते हुए विज्ञान में होने वाले प्रेक्षण से तुलना के लालच में फंस सकते हैं। लेकिन यह ‘ठोसता’ सिर्फ उन चीजों के बारे में होती है, जो हमारे पास अभी हैं। ये चीजें कैसी थीं, यह देखने के लिए हमें व्याख्या की जरूरत पड़ती है जो उनके महत्त्व और उनकी विश्वसनीयता, दोनों के बारे में हमें रास्ता दिखाती है। ‘तथ्यों’ को भी असल में साबित करना पड़ता है; वे ऐसी चीज नहीं होते जिन्हें जो चाहे फौरन देख-बूझ पाए (वॉल्श, 1951, अध्याय 1)।

‘तथ्यों’ को स्थापित करने की प्रक्रिया उस वृत्तांत को गढ़ने की प्रक्रिया से कतई अलग नहीं की जा सकती। ‘इतिहासकार साक्ष्यों की वैधता साबित करता है, तथ्यात्मक सामग्री निर्मित करता है और अपनी व्याख्या विकसित करता है। वह इन सारे कामों को एक साथ करता है और प्रत्येक के हर आयाम को दूसरी प्रक्रिया की कसौटी पर कसता जाता है’ (पैरी, 1966, 42)। बेशक, इस तरह के वृत्तांत गढ़ने के दौरान न जाने कितने ऐसे मौके आते हैं जब इतिहासकार की अपनी पक्षधरता और पूर्वग्रह वृत्तांत में घुस आते हैं- और निश्चय ही ऐसा होता है- मगर इतिहासकार होना कोई एकल क्रिया नहीं होता। उसके श्रम पर उसके साथी इतिहासकार अपना फैसला और आलोचना देते हैं और इस प्रक्रिया में उसके निष्कर्षों को और औचित्य या संशोधन मिलते हैं - यहां तक कि उन्हें खारिज भी कर दिया जाता है। अधिकतम संभव वस्तुनिष्ठता का यह आश्वासन जितना उस इतिहासकार के श्रम में निहित होता है, उतना ही उसके शोध की सार्वजनिक आलोचना और आकलन पर भी आश्रित रहता है, जिस पर सर कार्ल पॉपर ने विज्ञान के संदर्भ में न जाने कितनी बार जोर दिया है (पॉपर, 1962 खंड 2, अध्याय 23)।

(घ) कलाएं : सौंदर्यबोध का मसला सिर्फ कलाओं तक सीमित नहीं होता। हम समुद्र और आकाश जैसी प्राकृतिक वस्तुओं के बारे में भी सौंदर्यात्मक रूप से अवगत हो सकते हैं और भले ही दूसरी चिंताओं के मुकाबले कमजोर स्तर पर ही सही सौंदर्यात्मक चिंताएं गणित, विज्ञान, इतिहास और किसी भी तरह की व्यावहारिक गतिविधि में भी हमेशा शामिल रहती हैं चाहे उनमें नई वस्तुओं का निर्माण किया जा रहा हो या मौजूदा चीजों को व्यवस्थित किया जा रहा हो। न ही सौंदर्यबोध का आशय सुंदरता तक सीमित है, जब तक कि हम सौंदर्यबोध से सार्थक अर्थ प्राप्त करने के लिए उसे एक खास प्रकार

से पारिभाषित न कर दें। किंग लीयर या रॉम्ब्रेंड्ट द्वारा बनाया गया बूढ़े के रूप में अपना पोर्ट्रेट नाना रूपों में हमें गहरे तौर पर प्रभावित कर सकता है, मगर उन रूपों में सुन्दरता नहीं होती।

बहरहाल, यदि हम अपनी चर्चा को कलाओं तक ही सीमित रखें तो स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि अवधारणा और प्रमाणीकरण की प्रणालियों के दो आयाम सौंदर्यात्मक प्रणाली और निर्णय क्षमता में किस तरह अपनी पैठ बनाते हैं। इतिहास की तरह कलाएं भी लय, प्रवाह, अभिव्यक्ति व संतुलन जैसे जाने-पहचाने शब्दों का इस्तेमाल करती हैं लेकिन यहां उनमें नए भाव या नए प्रयोग शामिल हो जाते हैं। रचना और शैली के अनुरूप, रुबाई, दोहा, छंद, गजल, बारोक, लयहीन कविता जैसी नई अवधारणाएं विकसित हो सकती हैं। उपन्यास, लघुकविता और गोदना जैसी नई सौंदर्यपरक वस्तुएं और उत्पादन की नई पद्धतियां सामने आ सकती हैं। इसका मतलब है कि कलाओं में जानी-पहचानी अवधारणाओं के नए प्रयोग और विभिन्न परंपराओं के विकास व आलोचना में नई अवधारणाओं का उदय, दोनों चीजें साथ-साथ चलती रहती हैं।

सौंदर्यात्मक चयन की प्रमाणीकरण की प्रणालियां उन लोगों के सामने अच्छी-खासी मुश्किल पैदा करती हैं जो उन प्रणालियों को व्यक्त करना चाहते हैं। आंशिक रूप से इसका कारण यह है कि हमारे पास ऐसा कोई प्रत्यक्ष भाव नहीं होता जिसमें किसी कलाकृति को पहले से मौजूद किसी चीज के आस-पास देखा जा सके। ऐसा कोई यथार्थ प्रतीत नहीं होता जिसके बारे में कलाकृति कोई सत्य उद्घाटित करना चाहती है, जैसा कि विज्ञान और इतिहास में होता है। गणित में जब एक बार परिभाषाएं और स्वयंसिद्ध वक्तव्य निर्धारित हो जाते हैं तो तब तक अबूझ बाकी प्रणाली निहितार्थ के रूप में ‘पहले से मौजूद’ दिखाई देने लगती है। विज्ञान और इतिहास में सही नियम ढूंढने और ऐसे वृत्तांत उपलब्ध कराने का प्रयास किया जाता है जो किसी न किसी अर्थ में वास्तविक घटनाओं से ‘संबंधित’ हो; वरना वे नियम और वृत्तांत यथार्थ से स्वतंत्र कपोल कल्पना और किस्से ही बनकर रह जाते हैं।

लेकिन कलाकृति पहले से निहित नहीं होती। वह ऐसी चीज नहीं है जिसको बस ढूंढ़ लिया जाना है। वह कलाकार की सरजना होती है, इस अर्थ में उसका अपना एक जगत होता है। पुनश्चः, किसी चित्र या संगीत रचना पर यह प्रतिक्रिया देना बहुत बेतुकी बात होगा कि मुझे इस पर विश्वास नहीं हो रहा है। यहां तक कि सर्वाधिक ‘निरूपक’ कलाएं, जैसे ‘तथ्यात्मक रंगमंच’, भी कला की सीमाओं से बाहर जाए बिना महज चीजों की नकल नहीं कर सकतीं। कला, यहां तक कि निरूपक कलाओं में भी चीजों का चयन और अस्वीकृति, पुनर्संयोजन, आरोह-अवरोह, संवर्धन और विस्मरण शामिल रहता है

(देखें स्टोलनिट्ज़, 1960, अध्याय 5)। इसके अलावा बहुत सारे सौंदर्यात्मक निर्णयों के विवादास्पद स्वरूप को भी जोड़ दें तो हम इस निष्कर्ष तक पहुंच सकते हैं कि एक व्यक्ति की राय भी उतनी ही दुरुस्त है, जितनी किसी दूसरे की दुरुस्त है। हो सकता है हम किसी तस्वीर को देखें या संगीत को सुनें और उसमें हमें कुछ भी रुचिकर न लगे; हो सकता है हमें हैरानी हो कि सौंदर्यात्मक निर्णय की कसौटी सिर्फ एक फर्जीवाड़ा या सामाजिक खेल तो नहीं है! यदि हम उसे यानी सौंदर्य को, देख या सुन नहीं सकते तो भला वह वस्तु 'वहां' हो कैसे सकती है ?

बहरहाल, जैसे कला अच्छी और बुरी दोनों तरह की होती है, उसी तरह फैसले भी अच्छे और बुरे, दोनों तरह के होते हैं। जिन चीजों के बारे में हम फैसला दे रहे हैं उन्हें हम संभवतः तब तक नहीं समझ सकते जब तक हमारे पास उनकी उचित समझ न हो और हम उनसे पर्याप्त रूप से परिचित न हों। अच्छा कला आलोचक हमें कलाकार की बीबी के बारे में अफवाहें नहीं सुनाता या कला के साथ उसके निजी और उल्टे-सीधे संबंधों पर रोशनी नहीं डालता। वह कलाकार की रचना का इस तरह वर्णन करता है कि हम यह समझ पाने की स्थिति में आ जाते हैं कि सौंदर्यात्मक वस्तु क्या होती है और हम इस बारे में उसके फैसले से सहमति या असहमति जताने की स्थिति में पहुंच जाते हैं। वह पहले और दूसरे विषय उठाता है, उतार-चढ़ावों की ओर संकेत करता है, वह संगीत और लय की विशिष्टताओं की तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट कराता है। वह एक 'निरूपक' कला, मसलन मंचित की जा रही धार्मिक कथा, का संदर्भ स्पष्ट करता है, मंच की गतियों और निष्क्रियताओं की तरफ ध्यान खींचता है, पात्रों की उपस्थिति को सावधानी से दिखाता है, गौरतलब पहलुओं के असर की बात करता है, वह बताता है कि रंग और प्रकाश के इस्तेमाल से अभिव्यक्तियों को किस तरह छुआ गया है और बिना किसी नियम का पालन किए कैसे एक बेहतरीन संतुलन कायम किया गया है। लेकिन वह हमें आलोचना की इस प्रक्रिया के सीधे-सरल नियम नहीं बता सकता क्योंकि जो बात एक कृति पर 100 फीसदी लागू हो रही थी वही दूसरी कृति में निहायत बेतुकी या संतुलन-रोधी भी दिखाई दे सकती है। परंतु क्रमशः वह हमें कला की बेहतर समझ और बोध तक ले जा सकता है और हमारे भीतर आलोचनात्मक निर्णय

व सही-बुरे को समझने की क्षमता का सूत्रपात कर सकता है।

(च) नीतिशास्त्र : नीतिशास्त्र की एक बहुत प्रचलित समझ यह है कि नीतिशास्त्र सेक्स, परोपकार और आत्म-निषेध से जुड़े कुछ निर्देशों का एक अनावश्यक समूह होता है। संभवतः यह समझ सत्ता व निरंकुशता के विरुद्ध उत्तर-विक्टोरियाई प्रतिक्रिया का परिणाम है। लेकिन यह समझ सही नहीं है। नीतिशास्त्र सारे मानवीय मूल्यों, नियमों, सिद्धांतों, कसौटियों और उन्हें अभिव्यक्ति देने वाले आदर्शों से संबंधित होता है। लिहाजा, क्रिया और चयन के संबंध में अभी तक हमने नीतिशास्त्र की समझ के जिन स्वरूपों पर चर्चा की है, उन सबके ऊपर ज्यादा महत्वपूर्ण पद दिया जा सकता है। कहने का मतलब यह नहीं है कि नीतिशास्त्रीय चिंताओं को विज्ञान या इतिहास की खोजों में तोड़फोड़ की छूट दे दी जानी चाहिए या कि कला 'सामाजिक यथार्थवाद' दर्शाने की राजनीतिक अपेक्षा के मातहत होनी चाहिए; बल्कि कहने का अर्थ यह है कि एक वैज्ञानिक, इतिहासकार, कलाकार या कला मर्मज्ञ होने की गतिविधि में किसी मूल्य का समावेश एक नीतिशास्त्रीय मसला है।

यहां तक कि सौंदर्यबोध, हर चीज को सौंदर्यात्मक कसौटी के अधीन रखना भी, खुद एक नीतिशास्त्रीय फैसला होता है। इस कथन का अर्थ यह होता है कि कला को मानवीय जीवन में सर्वोच्च मूल्य की दृष्टि से देखा जाना चाहिए और यह अपने आप में एक सौंदर्यात्मक वक्तव्य नहीं हो सकता। क्रियाओं और चयन के प्रसंग में नैतिकता की अनिवार्य श्रेष्ठता तब खुद को और ज्यादा साफ तौर पर सामने लाती है, जब मूल्यों में टकराव होता है, मसलन जब वैज्ञानिक शोध के लिए जीते-जागते मनुष्यों पर प्रयोगों की जरूरत होती है, जब किसी दल विशेष या तानाशाह का गौरवगान करने के लिए इतिहास का पुनर्लेखन किया जाता है या जब कलाकृतियां अपराधों को जन्म

देने लगती हैं। ऐसी स्थितियों में हम इस बात से और ज्यादा आत्मचेतन हो जाते हैं कि विभिन्न मानवीय गतिविधियों का मूल्यांकन कैसे किया जाए, ऐसा मूल्यांकन जो टकराव पैदा होने से पहले संभवतः खुद हमें भी महत्वपूर्ण नहीं लग रहा था। इसी सर्वोच्चता की वजह से नीतिशास्त्रीय मूल्यांकन एक ऐसा क्षेत्र है, जहां निरंकुश शक्तियों को औरों के लिए इस आशय के नियम बनाने की इच्छा पैदा होती है कि उन्हें कैसे जीवन जीना चाहिए और अगर वे इन नियमों का पालन नहीं करते हैं तो उन्हें किस तरह का दंड दिया जाना चाहिए। लेकिन, भले ही कई बार ऐसा

वैज्ञानिक खोज हमेशा प्रेक्षण से शुरू नहीं होती। अगर हम प्रेक्षणों से शुरू करने का प्रयास करते तो किस चीज का प्रेक्षण करते ? क्या बस एक कागज-कलम लेकर इधर-उधर देखते और नोट्स बनाने लग जाते ? क्या एक मनोवैज्ञानिक बस कुछ चूहों को पिंजरे में रखकर इस बात का इंतजार करने लगेगा कि 'देखें क्या होता है' ? क्या प्रासंगिक होगा ? क्या प्रेक्षण-योग्य होगा ? इस आशय की यह समझदारी खूब प्रचलित है कि वैज्ञानिक खोज तो बस एक संयोग होता है जो किसी के साथ भी घट सकता है।

करना अवज्ञा जैसा लगता हो, मगर हमेशा ही उस सत्ता से हम यह पूछ सकते हैं कि वह हमसे जैसे आचरण की अपेक्षा रखती है, हमें वैसा आचरण क्यों करना चाहिए ? क्या सही या बोधगम्य या विवेकसंगत है, जब हम उसके कारण पूछते हैं तो नीतिशास्त्रीय निर्णयों की वैधता की पूरी समस्या सामने आ खड़ी होती है।

इस तरह के सवाल पूछने में व्यक्ति की स्वायत्तता को स्थापित करने की चाह भी निहित होती है, एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जिसके द्वारा अनुपालन सुनिश्चित करने के लिए उसे वाजिब कारण दिए जाने चाहिए। इसके अलावा यह भी सच है कि अगर सारी चीजें समान हों तो ये कारण सबके लिए मान्य होंगे और इस प्रकार उस भावी निरंकुश को भी लाजिमी तौर पर इस पैमाने के अधीन होना चाहिए जो औरों के लिए पैमाना तय कर रहा है। इसका मतलब है कि तर्क, समानता और निजी स्वायत्तता बहुत घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई अवधारणाएं हैं। वजह पूछना अपनी स्वायत्तता पर बल देना होता है और उस तर्क को मान लेना खुद को उसके अंतर्गत आने वाले दूसरे लोगों के बराबर रख देना होता है। परंतु सत्ता की स्वतंत्रता हमें औरों से सलाह लेने, उनके अनुभवों और निर्णयों का लाभ उठाने से नहीं रोकती और निस्संदेह अपने विवेक का सदुपयोग करते हुए हम ऐसा लाभ लेते रहते हैं।

नीतिशास्त्रीय सरोकारों में एक सहज फर्क सामाजिक नैतिकता और व्यक्तिगत आदर्श के बीच चिह्नित किया जा सकता है (स्ट्रॉसन, 1966, अध्याय 15)। यहां 'सामाजिक नैतिकता' का अर्थ ऐसे अंतर्व्यक्तिक नियमों की व्यवस्था से है जिनके तहत कुछ खास तरह के महत्वपूर्ण अंकुशों और कुछ निश्चित कार्यवाइयों की मांग की जाती है। ये नियम इतने महत्वपूर्ण हैं कि उन्हें सटीक बनाने, उनके महत्व पर जोर देने और उनकी उपेक्षा होने पर उपचार की व्यवस्था करने के लिए हम उन्हें कानूनों की शक्ति तक दे देते हैं। सही, गलत, दायित्व और नैतिक कर्तव्य आदि इस परिधि में महत्वपूर्ण अवधारणाएं होती हैं, हालांकि इनके अलावा भी बहुत सारी और विशिष्ट अवधारणाएं होती हैं जो ये चिह्नित करती हैं कि कुछ ठोस संदर्भों में किसको स्वीकार्य या अस्वीकार्य माना जा सकता है।

सामाजिक नैतिकता के ऐसे नियमों की वैधता निष्पक्षता या न्याय के आधारभूत औपचारिक सिद्धांतों तथा जनहित या सार्वजनिक लाभ की चिंता के रूप में सामने आती है (देखें पीटर्स, 1966, भाग 2)। जनहित की अवधारणाएं प्रायः अस्थिर या परिवर्तनशील रहती हैं। वे किसी समाज के विश्वासों व स्थानीय परिस्थितियों और हमारी खास भूमिकाओं के हिसाब से बदलती रहती हैं। हम एक पिता/माता, एक मित्र, एक शिक्षक और एक नागरिक के दायित्वों से भी बंधे होते हैं और कुछ ऐसे सामान्य दायित्वों का भी निर्वाह

करते हैं जो किसी निश्चित सामाजिक भूमिका का अंग नहीं होते। आगे इनमें से कुछ पर संक्षिप्त चर्चा की गई है।

सामाजिक नैतिकता के दो औपचारिक सिद्धांतों का पहले ही जिक्र किया जा चुका है। हमारे मूलभूत साझा हितों की रक्षा के लिए और भी बहुत सारे सामान्य नियम प्रचलन में रहते हैं। इस तरह के नियम आक्रामकता, लोभ, यौनिकता और मत भिन्नताओं के प्रति असहिष्णुता जैसे विभिन्न प्रकार के रुझानों पर नियंत्रण से संबंधित होते हैं। ये नियम हत्या, किसी पर हमले, क्रूरता जैसी चेष्टाओं व कृत्यों का निषेध करते हैं; वे अपमानजनक और शर्मिंदगी भरे आचरण को रोकते हैं; वे संपत्ति की रक्षा करते हैं; यौनिकता की अभिव्यक्ति के लिए सहवास और विवाह जैसी भूमिकाओं को तय करते हैं; वे किसी की परिधि में घुसपैठ तथा औरों के द्वारा दखलंदाजी को रोकते हैं।

कई दूसरे नियम लोगों के रुझानों पर नियंत्रण के बजाय औरों के प्रति सकारात्मक नैतिक दायित्व की ज्यादा व्याख्या करते हैं। इनमें अपने बच्चों के प्रति हमारे कर्तव्य, सत्यभाषी होने, वादा निभाने, संयुक्त प्रयासों में परस्पर सहयोग करने और जरूरत के वक्त औरों को मदद देने जैसे दायित्व आते हैं। हालांकि, इनमें से कोई भी बुनियादी नियम निरपेक्ष नहीं होता, लेकिन किसी खास अवसर पर एक नियम दूसरे पर हावी हो सकता है, किन्तु कुल मिलाकर वे सामाजिक जीवन की आधारभूत परिस्थितियां तय करते हैं। सुव्यवस्थित मामलों में उन्हें प्रायः सहज स्वाभाविक मान लिया जाता है। लेकिन, जब ये नियम नहीं होते हैं तो, हॉब्स के शब्दों में, जीवन बहुत 'अकेला, दरिद्र, घृणास्पद, निर्मम और लघु' हो जाता है।

लेकिन बुनियादी दिलचस्पियां ही पूरे नीतिशास्त्रीय जीवन को नहीं गढ़तीं और उपरोक्त बुनियादी नैतिक मूल्यों का आधार मानते हुए भी इन साझा हितों में व्यक्तिगत आदर्शों के बीच फर्क की गुंजाइश रहती है। इस स्तर पर अच्छा, बुरा, उपयोगी, वांछनीय, संतोष, सुख और स्वास्थ्य जैसी अवधारणाएं ज्यादा स्पष्ट हो जाती हैं। इस स्तर पर चयन की संभावनाओं को साकार करने के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय और शिक्षा मुख्य सुगमतावर्धक परिस्थितियां होती हैं। हम चाहें तो पारिवारिक जीवन और मित्रता को या कला अथवा विद्वता या किसी धार्मिक संस्था की सदस्यता या समाज सेवा या प्रकृति के निकट होने या किसी खास कंपनी में होने या आविष्कार करने या जोखिम और रोमांच का जीवन जीने या बहुत सारी दूसरी मूल्यवान गतिविधियों को सबसे ऊपर भी रख सकते हैं। समाजविज्ञान और साहित्य व इतिहास हमें ऐसी ही और बहुत सारी संभावनाओं से परिचित कराते हैं।

यहां प्रमाणीकरण में मूलभूत नैतिकता के अनुपालन की नकारात्मक

शर्त शामिल है, मगर इसके परे ऐसे विवरणों की समझ भी शामिल होती है, जिनमें जीवन की विभिन्न पद्धतियों को सराहा और संभवतः अपनाया जाता है। बेशक, इस तरह का चयन दो मिनट में नहीं होता बल्कि यह तो सही विकल्प को समझने और उसमें विश्वास अर्जित करने की एक लगातार चलने वाली प्रक्रिया का मसला है, जिसके चलते हम कम से कम अपने लिए कोई खास जीवन पद्धति, जीवन का कोई उपयोगी आदर्श तय करते हैं।

(छ) धर्म : यह कहा जा सकता है कि जिन आधारों पर उपरोक्त समझदारियों को पाठ्यचर्या में शामिल किया जाता है ठीक उन्हीं आधारों पर धर्म को भी पाठ्यचर्या में जगह मिलनी चाहिए। इसके समर्थन में यह कहा जा सकता है कि दुनिया में अपनी स्थिति को समझने के लिए धर्म भी निश्चय ही एक महत्वपूर्ण तत्व है। इसकी अपनी अन्तस्संबंधित अवधारणाएं हैं- ईश्वर, अनुकंपा, पाप, स्वर्ग, अमरता, अभिशाप और 'हमारे अस्तित्व का सर्वोपरि आधार' आदि। धार्मिक अनुभव में भी वैधीकरण की एक अपनी विशिष्ट प्रणाली होती है। यह प्रणाली ईसा मसीह व पैगंबरों के जरिए ऐतिहासिक आकाशवाणी और प्राकृतिक धर्मशास्त्र की 'पुष्टियों' के रूप में काम करती है। जाहिर है कि इन सारे दावों के साथ एक-दो पन्नों में न्याय नहीं किया जा सकता, मगर कम से कम इनमें से कुछ मुद्दों को छुआ तो जा सकता है (कुछ नई चर्चाओं के लिए देखें, फ्ल्यू एवं मेकिंटायर, 1955; मिशेल 1957; फ्रेरे, 1962; स्मार्ट, 1964)।

धर्म सिर्फ धार्मिक सिद्धांतों का मसला नहीं है। इसमें नैतिक निर्देश, पूजा पद्धतियां और नाना संस्थान भी आती हैं। लिहाजा, पंथ, संहिताओं और मंदिर-मस्जिदों को जोड़कर धर्म न केवल बहुत सारी गतिविधियों में से एक संभव गतिविधि प्रस्तुत करता है बल्कि वह एक समूची जीवनशैली प्रस्तुत कर देता है। पीछे के एक हिस्से में पहले ही इस बात का जिक्र आ चुका है कि प्रार्थना और पूजा हमारे भीतर ईश्वर में विश्वास पर आधारित होती है और यह उस 'में विश्वास' वस्तुतः 'विश्वास कि' ऐसा है से पहले आता है जो बदले में सत्य के प्रश्न खड़े करता है। धर्म का संबंध ईश्वर से है, बल्कि ऐसे ईश्वर से जो न केवल हमारे रुझानों और आकांक्षाओं के अनुकूल होता है बल्कि जो हमारे विश्वास के परे 'कहीं' विद्यमान है। इसके अलावा, किसी मठ के सदस्य खुद को उसी (समान) वस्तु की अर्चना करते हुए कैसे मान सकते हैं जब तक कि उनके पास

ऐतिहासिक वृत्तांतों के लिए प्रमाणीकरण की प्रणालियां भी इतनी आसानी से नहीं बनाई जा सकतीं कि सब उन्हें समझ सकें या लागू कर सकें। यहां हम स्मारकीय अभिलेखों, सिक्कों, दस्तावेजों, इमारतों, बरतनों, पुस्तकों, हथियारों आदि 'ठोस तथ्यों' का हवाला देते हुए विज्ञान में होने वाले प्रेक्षण से तुलना के लालच में फंस सकते हैं। लेकिन यह 'ठोसता' सिर्फ उन चीजों के बारे में होती है, जो हमारे पास अभी हैं। ये चीजें कैसी थीं, यह देखने के लिए हमें व्याख्या की जरूरत पड़ती है जो उनके महत्व और उनकी विश्वसनीयता, दोनों के बारे में हमें रास्ता दिखाती है।

उस समानता की कसौटी तय करने के लिए कुछ बुद्धिसंगत और सत्य विश्वास न हो।

विश्वास और सत्य के सवालियों से बचकर निकला जा सकता है। आप कह सकते हैं कि यह एक ऐसा रहस्य है जो ईश्वर को हमारी समझ की शक्तियों के परे रखता है। इस क्रम में आप विरोधाभासों का सहारा ले सकते हैं और तमाम अंतर्विरोधों से बेखौफ रह सकते हैं। आप 'प्रतिबद्धता' और 'आस्था की छलांगों' की भाषा बोलते हुए कीर्केगार्ड के पदचिह्नों पर चल सकते हैं। इस चेष्टा का नतीजा यह होता है कि धर्म को तर्कशील विवेचना

की परिधि से परे स्थापित कर दिया जाता है। परंतु, इसी कसौटी के दम पर आप किसी को इस बात का कारण भी नहीं दे सकते कि वह भी उस प्रतिबद्धता और छलांगों का पालन करे। यहां विश्वास और इच्छा के बीच मौजूद संबंधों के बारे में भी सवाल उठते हैं। जब ये सवाल सामने आते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रतिबद्धता के लिए सत्यनिष्ठा का त्याग और सार्त्र के शब्दों में 'निकृष्ट आस्था' की शरण में चले जाना जरूरी है। ईश्वर के बारे में हम अपने विश्वासों को महज उत्साही पुष्टियों या विश्वास की बेखटक इच्छाओं के सहारे ही सत्य नहीं बना सकते।

कुछ लोग विश्वास और सत्य के सवालियों से क्यों बच निकलना चाहते हैं, इसके कारण समझना मुश्किल नहीं है। उनका जवाब ढूंढने में बड़ी मुश्किलें पेश आती हैं। धार्मिक अनुभव और ऐतिहासिक आकाशवाणी ईश्वर के विश्वास से पहले नहीं आते, बल्कि वे इस विश्वास को सिर्फ और स्थापित व पुष्ट करते हैं। कोई भी अनुभव खुद-ब-खुद अपनी कथित अंतर्वस्तु के अस्तित्व को स्थापित नहीं कर सकता। धर्मनिरपेक्ष इतिहास भी सिर्फ यही स्थापित करता है कि कुछ लोगों ने यह कहा है कि उनके पास कुछ खास विश्वास और अनुभव थे। यह इतिहास धार्मिक स्तर पर उन विश्वासों और अनुभवों को वैध सिद्ध नहीं कर सकता। न ही परंपरागत पुष्टियां और साक्ष्य कोई बेहतर दृश्य प्रस्तुत करते हैं जो कि कान्ट द्वारा प्रस्तुत की गई उनकी आलोचनाओं और उन आलोचनाओं के उत्तरोत्तर परिष्कृत वक्तव्यों से साबित हो जाता है। सत्तामीमांसीय तर्क (Ontological argument) इस दोषपूर्ण मान्यता पर आधारित होता है कि किसी अवधारणा के अस्तित्ववादी अनुप्रयोग को परिभाषा की व्यवस्था के बाहर जाए बिना निर्धारित किया जा सकता है। ब्रह्माणिकी तर्क (Cosmological argument) भी हद से हद यही

दिखा पाता है कि एक प्रथम कारण संभव है मगर इसके बाद उसकी विवेचना भी सत्तामीमांसीय तर्क के रास्ते पर चलने लगती है। जहां तक प्रयोजनवादी तर्क (Teleological argument) का सवाल है, तो भला यह क्यों मान लिया जाए कि दुनिया कोई खाका है या उसका कोई एक रचनाकार है या वह रचनाकार ईश्वर ही है ?

ईश्वर की अच्छाई और न्यायपरक दृष्टि का जिक्र आने पर मुश्किल और बढ़ जाती है। उसकी अच्छाई के संबंध में यह प्राचीन आपत्ति आज तक सिर उठाए खड़ी है कि इतने सारे निर्दोष लोग दुनिया में इतने कष्ट क्यों झेलते हैं ? या तो ईश्वर इस दुर्दशा को रोक नहीं सकता, जिसका मतलब है कि वह सर्वशक्तिमान नहीं है; या वह इसे रोकेंगे नहीं, जिसका मतलब है कि वह अच्छा नहीं है। उसके न्याय के संबंध में भी पेलाजियस के समय से ही मानवीय स्वतंत्रता और जिम्मेदारियों से जुड़ी असंख्य समस्याएं मुंह बाए खड़ी हैं। यानी, या तो मैं अपने बूते पर अच्छा चुनने में सक्षम नहीं हूँ, जिसका मतलब है कि मुझे गलत चयन के लिए जिम्मेदार ठहराने और दंडित करने का क्या औचित्य है; या, कि मैं चुनने में सक्षम हूँ, जिसका अर्थ है कि मेरी यह स्वतंत्रता ईश्वर के सर्वशक्तिमान होने को सीमित कर देती है और मेरा स्वभाव इतना पापपूर्ण नहीं हो सकता कि उसे ईश्वर द्वारा पुनरोद्धार की जरूरत पड़े।

इनके अलावा भी कई आपत्तियां हैं जो धार्मिक दावों के सत्य या तर्कदोष को सामने लाने के लिए तार्किक रूप से भले ही बहुत प्रासंगिक नहीं हैं, मगर वे इस संभावना के बारे में हमारे आकलनों को गंभीर रूप से प्रभावित जरूर करती हैं कि और अधिक पड़ताल करने पर कुछ दावे सत्य सिद्ध हो सकते हैं। आपत्तियों के बजाय इन्हें 'दावों की शक्ति छीनने वाला' वक्तव्य कहना ज्यादा बेहतर होगा। इनमें सुरक्षा की आकांक्षा के तौर पर धार्मिक विश्वास की उत्तर-फ्रायडवादी व्याख्या; मानव उत्पत्ति के बारे में वस्तुपरक दावों की परिधि से धार्मिक विमर्श को बाहर निकाल देने की उत्तर-डार्विनवादी व्याख्या; धार्मिक संस्थान किस तरह निहित स्वार्थों का केंद्र बन जाते हैं और प्लेटो द्वारा बताए गए तरीकों से जानबूझकर इस्तेमाल किए जाने लगते हैं, इससे संबंधित समाजशास्त्रीय व्याख्याएं; ऐसे सापेक्षतावादी अध्ययन जो दिखाते हैं कि दुनिया में बहुत सारे धर्म हैं और सभी अपनी-अपनी प्रस्थापनाओं को सत्य मानते हैं और चमत्कारों की पुष्टि के अपने-अपने उदाहरण देते हैं, ये इन्हीं लघुतर आपत्तियों की श्रेणी में आते हैं। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है ये तथ्य किसी खास सत्य के दावे के लिए बहुत प्रासंगिक नहीं हैं, परंतु वे उन लोगों के बारे में हमारे अनुमानों के लिए बहुत प्रासंगिक हैं जो दावे कर रहे हैं।

बहरहाल, सत्य या तर्कदोष के सवालों से पहले अबोधगम्यता के

सवाल आ जाते हैं। यह कहने का क्या मतलब है कि कोई 'ईश्वर में विश्वास' रखता है ? छवियां सार्थकता का बोध दे सकती हैं मगर जैसे ही धार्मिक विचारों को उनकी छवियों से हीन कर दिया जाता है तो विश्वास का कौन-सा आधार बच जाता है ? लेकिन इन छवियों से हीन हो जाने पर भी वे विचार मौजूद रहते हैं क्योंकि ईश्वर तो अनुभवातीत है और तस्वीरों को पूजना तो केवल मूर्तिपूजा है। अगर इन तस्वीरों की जगह प्रेम, इच्छाशक्ति, बल, पिता व उत्पत्ति आदि अवधारणाओं को रख दिया जाए तो भी मसला हल नहीं होता क्योंकि इन अवधारणाओं को भी अपना अर्थ इंसानों द्वारा प्रयोग किए जाने से ही मिलता है और वे तो ईश्वर पर शब्दशः लागू नहीं होती। वे बेहद वैध सादृश्यताओं से ज्यादा नहीं हो सकतीं, मगर इस बात को स्वीकार कर लेना फ्ल्यू के शब्दों में 'हजार वैधताओं के हाथों मौत' में परिणत हो सकता है (1955, 97)। और भला ऐसा क्यों है कि ईश्वर लंबा, मुटियल, उबाऊ या उतावला क्यों नहीं हो सकता, भले ही 'भिन्न मगर सादृश्य भाव में' ? और, ऐसा कैसे हो सकता है कि जो ईश्वर चिरंतन है, सर्वपरिष्कृत है और जिसमें कोई अभाव नहीं है, वह एक ऐसे जगत से संबंधित है जो लगातार परिवर्तनशील है और जिससे ईश्वर संतुष्ट नहीं है ? और अंत में, हम यह कैसे मान लें कि मृत्यु के बाद हमारा अस्तित्व रहेगा ? एक अशरीरी आत्मा किस अर्थ में व्यक्ति रह जाएगी, किस अर्थ में आत्म-संदर्भ और अन्य आत्माओं से अपनी वैयक्तिकता दर्शाने में सक्षम रह जाएगी ?

बेशक, इनमें से कोई आपत्ति निर्णायक नहीं है। इनमें से किसी के भी जवाब में और ज्यादा भेद किए जा सकते हैं, तर्कों में फर्क किया जा सकता है, सादृश्यताएं दिखाई जा सकती हैं और संभावनाओं को विस्तार दिया जा सकता है। शक्तिशाली भावनाएं कुछ न कुछ बुद्धिगम्य होते चले जाने और उसका सत्य स्थापित करने के लिए प्रेरित करती हैं। किसी खास मनोदशा में विट्गेंस्टाइन की तरह हम भी इस आश्चर्यजनक तथ्य से सदमे में जा सकते हैं कि वाकई दुनिया है भी या नहीं! संभव है हम जीवित होने के लिए एक तरह के कृतज्ञता ऋण को महसूस करने लगें और किसी ऐसी शक्ति की खोज में निकल पड़ें जिसके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त कर सकते हैं। हो सकता है हम विश्व और जीवन को देखकर अपने अचंभे को व्यक्त करने, अपनी अवश्यंभावी मृत्यु के समक्ष अपनी श्रेष्ठतम आकांक्षाओं को केंद्रित करने और खुद को आश्वस्त करने का तरीका ढूंढने लगें। हमें तसल्लियों की इस हद तक इच्छा हो सकती है कि हम जानबूझकर अपने सच्चे संदेहों को भी दबा दें और हमारे इस आत्म-भ्रम में जो भी खलल डालता हो, उस पर टूट कर हमला करने लगें। जैसा ए.सी. मेकिंटायर का कहना है, हमारी परेशानी यह होगी कि हम ईसाई धर्मशास्त्र को स्वीकार नहीं कर सकते, जबकि

दूसरी ओर वही हमें एकमात्र ऐसी शब्दावली देता है जिसके सहारे हम मानव जीवन के बारे में कुछ मौलिक प्रश्न खड़े कर सकते हैं (मेकिंटायर, 1967, 69)।

इस प्रकार, यहां कभी भी अंतिम रूप से कुछ तय नहीं हो पाता। दोनों ही तरफ संवेदनशील और बुद्धिमान लोग पाए जा सकते हैं। और क्योंकि धर्म के दावों को अंततः न तो सिद्ध किया जा सकता है, और न ही खारिज किया जा सकता है जबकि दूसरी ओर, अगर वे सत्य हैं तो सर्वोच्च महत्त्व के होने चाहिए, इसलिए हम औरों की तरफ से इस मामले को निर्णीत नहीं मान सकते-भले ही खुद अपने तर्क हम जो चाहे मान लें। इन्हीं कारणों को देखते हुए शुरू में यह जिज्ञासा किया गया था कि स्कूलों में बच्चों को धर्म के बारे में निश्चित रूप से पढ़ना चाहिए, मसलन साहित्य और इतिहास के अध्यायों में। आगे चलकर उन्हें खासतौर से धार्मिक सवाल पर भी पढ़ाया जाना चाहिए, मगर उन्हें जानबूझकर धर्म का पाठ पढ़ाना अनुचित है जो कि अभी बहुत सारे लोग कर रहे हैं। बेशक, यह एक बेचैनी भरा समझौता है, मगर इसमें इस बात की फिक्र शामिल है कि फिलहाल चीजें कैसी हैं।

समझ और चयन : पीछे हमने कहा था कि तर्कशील चयन के लिए पहले से इस बात की समझ होना जरूरी है कि दुनिया में हमारी स्थिति क्या है और इस बात की व्याख्या करने के लिए यह सवाल उठाया गया था कि 'समझ के स्वरूप' का क्या अर्थ है और किस सिद्धांत के बल पर इन स्वरूपों में फर्क किया जाएगा। अब हम इस सवाल पर चर्चा करेंगे कि यह समझ के चयन के लिए किस अर्थ में आधारभूत तत्व है। हमारा दावा यह नहीं है कि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान समझ के इस या उस स्वरूप के अंतर्गत आता है। आदिम शारीरिक क्षमताओं को जैसे अपना लक्ष्य कैसे ऊपर उठाएं, अपनी इंद्रियों को कैसे पहचानें, यहां शामिल नहीं किया गया है; न ही हमारे बहुत सारे बोधात्मक और स्मृति संबंधी ज्ञान को लिया गया है। चिड़ियों और मकानों को देखने, कल हमने क्या किया था यह याद करने या दूसरे लोगों की सरल प्रेरणाओं को पहचानने की काबिलियत हासिल करने के लिए हमें किसी औपचारिक शिक्षा की जरूरत नहीं है।

हम सिर्फ यह कह रहे हैं कि ऊपर समझ के जिन रूपों का जिक्र किया गया था वे ऐसे मूलभूत तरीके हैं जिनमें मानवीय अनुभव को इतिहास में विस्तारित और व्याख्यायित किया गया है। लिहाजा, यह समझ तर्कशील चयन से पहले आता है और इसलिए औपचारिक शिक्षा के लिए बहुत प्रासंगिक है, जिसकी उसे खुद को फैलाने के लिए खास जरूरत है। पी.एच. हर्स्ट की तर्ज पर इसे 'उदार शिक्षा' या एक मुक्त मानव के लिए उचित शिक्षा के समकक्ष रखने में कोई हर्जा नहीं है (हर्स्ट, 1965)।

सरलतम मानवीय गतिविधियों को छोड़कर सभी मानवीय गतिविधियां समझ के इन रूपों से बल ग्रहण करती हैं। उदारवादी पेशे, प्रौद्योगिकियां,

उद्योग और वाणिज्य, सभी उनका उपयोग करते हैं। मिसाल के तौर पर, शिक्षक जैसे व्यवसायों में मानव विज्ञानों और फलस्वरूप गणित का खूब इस्तेमाल किया जाता है और ये व्यवसाय इस आशय के नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोणों से बचकर नहीं चल सकते कि क्या उपयोगी है। यह बात तब और जाहिर हो जाती है जब हम उसे एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। यहां तक कि आमोद-प्रमोद की गतिविधियों के लिए भी इन समझ के स्वरूपों की जरूरत पड़ती है। उदाहरण के लिए, आप एकवालग डाइविंग की कल्पना कर सकते हैं। यदि आप इस खेल के लिए बुनियादी सुरक्षा सावधानियों और उपकरणों के संचालन को समझना चाहते हैं तो संबंधित विज्ञानों और गणित का कुछ ज्ञान निहायत जरूरी हो जाता है। सौंदर्यात्मक एवं वैज्ञानिक तत्व और यहां तक कि प्रत्यक्ष ऐतिहासिक तथ्य भी

● बहरहाल, जैसे कला अच्छी और बुरी दोनों तरह की होती है, उसी तरह फैसले भी अच्छे और बुरे, दोनों तरह के होते हैं। जिन चीजों के बारे में हम फैसला दे रहे हैं उन्हें हम संभवतः तब तक नहीं समझ सकते जब तक हमारे पास उनकी उचित समझ न हो और हम उनसे पर्याप्त रूप से परिचित न हों। अच्छा कला आलोचक हमें कलाकार की बीबी के बारे में अफवाहें नहीं सुनाता या कला के साथ उसके निजी और उल्टे-सीधे संबंधों पर रोशनी नहीं डालता। वह कलाकार की रचना का इस तरह वर्णन करता है कि हम यह समझ पाने की स्थिति में आ जाते हैं कि सौंदर्यात्मक वस्तु क्या होती है और हम इस बारे में उसके फैसले से सहमति या असहमति जताने की स्थिति में पहुंच जाते हैं। ●

इस गतिविधि के केंद्र में आ जाते हैं और चुनी गई जीवन शैली के हिस्से के तौर पर उसमें मूल्य का बोध पैदा करते हैं।

इसका मतलब है कि समझ के ये रूप इंसानी संस्कृति के लिए केंद्रीय महत्त्व रखते हैं। कोई व्यक्ति कभी भी जो चयन करता है, ये समझ के स्वरूप ऐसे हर फैसले की बारीकी से चीर-फाड़ नहीं करते, मगर वे दुनिया में हमारी सामान्य स्थिति के महत्त्वपूर्ण आयामों को जरूर गढ़ते हैं, बल्कि बहुत सारे रूपों में अकेले वही यह उजागर कर सकते हैं कि 'दुनिया' क्या है। लिहाजा, हैरानी की बात नहीं है कि जो लोग विशेषाधिकार और स्वार्थ की हिमायत में औरों के जीवन को नियंत्रित करना चाहते हैं, वे हमेशा शिक्षा प्रसार के प्रति शंकालु रहते हैं और उसे अपने तक ही सीमित रखना चाहते हैं।

यह हमारी अपनी प्रारंभिक स्कूल परंपरा का भी एक पहलू था। रॉबर्ट लोवे ने कहा था कि निचले वर्गों को इसलिए शिक्षित किया जाना चाहिए ताकि वे उन्हें सौंपे गए दायित्वों का निर्वाह कर सकें। 1911 में जब एक उच्चवर्गीय महिला ने गहरी चिंता के साथ देखा कि शिशुशाला में बच्चों को बाकायदा शिक्षा दी जा रही है और कहा कि अगर यह सब चलता रहा तो हमारे नौकर कहां से आएंगे ? तो होम्स ने इस महिला को आश्वस्त करने के लिए कहा था कि ये लोग शारीरिक श्रम के लिए उतने उपयुक्त नहीं थे, जितना उन कामों के लिए उपयुक्त थे जिनके लिए ईश्वर ने उन्हें चुना है (होम्स, 1911, 228, फुटनोट)। विश्वविद्यालयों के प्रसंग में तानाशाहों की गतिविधियां तो सुविदित हैं ही। हालांकि शिक्षा स्वार्थी विशेषाधिकारों की हिमायत को असंभव नहीं बना सकती, क्योंकि आप हमेशा जबरदस्ती कर सकते हैं, लेकिन यह जरूर है कि शिक्षा इस तरह की हिमायत को बहुत मुश्किल बना देती है।

समझ और भावनाएं : चौथा मसला भावनाओं और समझ के संबंधों की व्याख्या का है। कल्पनाशीलता और आलोचनात्मक सोच ऐसी समझ के विकास के साथ प्रत्यक्ष रूप से जुड़े हुए हैं, मगर भावनाओं को कई लोग जुड़ा हुआ नहीं मानते। तर्कशीलता और भावना के बीच एक तरह का परंपरागत विरोध रहा है (भावना की अवधारणा पर देखें, वारनॉक, 1957; पीटर्स, 1961; एवं कैनी, 1963)।

एक तरफ तो हमें 'तर्कशील' व्यक्ति के बारे में सोचने के लिए प्रेरित किया जा रहा है जो बहुत ठंडा और तोल-मोल के चलने वाला है और जिसके पास एक तरह के औजार जैसी शुष्क और भावशून्य बुद्धि है, जबकि दूसरी तरफ 'भावुक' व्यक्ति बहुत गर्मजोश और संवेदनशील, फौरन अपने भाव व्यक्त करने वाला स्वतःस्फूर्त और गंभीर होता है, भले ही उसकी यह संजीदगी कभी-कभी भ्रमित ही क्यों न हो। संभवतः, यह दर्ज करने की बात है कि बच्चों 'को जीवन के लिए तैयार' करने के हिमायती 'औपचारिकतावादियों' तथा खेल की सहजता और तात्कालिकताओं में मुक्ति का स्रोत ढूंढने वाले बालकेंद्रित सिद्धांतकारों के बीच द्वंद का यह एक प्रमुख आधार है। हां, इस बात पर जरूर संदेह किया जा सकता है कि इनमें से कोई से भी खेमे के पास भावना की पर्याप्त अवधारणा है या नहीं।

सीधे तौर पर देखें तो भावनाओं में एक भीतरी, संवेदी पक्ष होता है, जिसे उपमाओं के अलावा और किसी तरीके से बयान नहीं किया जा सकता। यहां हमारा जो आशय है उसे संप्रेषित करने के लिए हम फूलना, उठना और गिरना जैसी हाइड्रॉलिक उपमाओं, बाहर निकालने और समाहित करने जैसी दाब की उपमाओं और उबलने, सीझने, बहकने और बुझ जाने जैसी खाना पकाने व जलने से

संबंधित रूपकों का इस्तेमाल करते हैं। लेकिन इतनी ही सपाट बात यह है कि हमारी भावनाएं सिर्फ इन अहसासों का मसला नहीं होतीं, वरना तो दिल में खराश, अपच और अफारे जैसे दैहिक अहसासों से उनका कोई फर्क नहीं रहता। दैहिक अहसासों के दैहिक स्रोत होते हैं, जिनको हम ढूंढने और हटाने में सक्षम या अक्षम हो सकते हैं, जबकि हमारी भावनाएं एक निश्चित मूल्यांकनपरक रोशनी में दिखाई देने वाली वस्तुओं और दशाओं से संबंधित होती हैं। यही फर्क है जो इस बात की संभावना पैदा करता है कि आप कुछ हद तक भावनाओं की शिक्षा दे सकते हैं, जबकि एहसासों की शिक्षा नहीं दे सकते। इस बात को जरा यों समझा जाए: मैं शंकर से खफा हूं क्योंकि मैंने उसे बेवजह मेरे रास्ते में रोड़े अटकते हुए देखा है; मैं इस खबर से बड़ी आनंदित हूं क्योंकि मेरी उम्मीदों के बावजूद ये बड़ी राहत की खबर है; मैं इस रॉकेट को देखकर गर्व महसूस कर रही हूं क्योंकि इसकी रचना में वही डिजाइन है जो मैं चाहती थी।

यह सिर्फ माथे पर बल, तेज सांसों, तेज हरकतों, मुस्कराहटों, चीख-पुकार और गालों की लाली का ही मसला नहीं है जिससे हम यह पता लगाते हैं कि कोई क्या महसूस कर रहा है बल्कि यह इस बात का भी मसला है कि वह अपनी स्थिति को जिस रोशनी में देखता है, उसके बारे में हमारा ज्ञान क्या कहता है। हम जो महसूस करते हैं और जिस मूल्यांकन की रोशनी में स्थिति को देखते हैं उन दोनों के बीच जो संबंध होता है वह सांयोगिक ही नहीं बल्कि तर्कपरक भी होता है। तर्कसंगत रूप से मैं कुछ खास भावनाओं को तब तक महसूस नहीं कर सकता जब तक मैं उस स्थिति को सही रोशनी में न देख लूं। पचास हजार रुपये जीतने पर जो मैंने महसूस किया वह तब तक किसी प्रकार का 'भय' नहीं हो सकता जब तक कि मुझे यह न लगने लगे कि यह स्थिति किसी दोस्त को गंवा देने, भ्रष्टाचार की ओर आकर्षित होने या किसी और हानिकारक प्रवृत्ति का स्रोत हो सकती है। जब मैं आकाश की ओर देखता हूं तो क्या महसूस करता हूं, वह तब तक 'गर्व' का भाव नहीं हो सकता जब तक कि मैं उसमें अपनी एक बहुत परिष्कृत सफलता को चिह्नित न कर लूं, मैं ईश्वर के सदृश अपनी शक्ति को महसूस न करूं। इस तरह, भावनाओं की विभिन्न अवधारणाओं में इन दोनों चीजों के बीच एक तार्किक संबंध होता है कि स्थिति को कैसे देखा जा रहा है और जो महसूस हो रहा है, उसको हम क्या कह सकते हैं। यह एक तरीका है जिसके आधार पर तर्क और भावना का विरोध गुमराह कर सकता है क्योंकि बोध और मूल्यांकन दोनों ही भावना का अंग होते हैं।

इस तार्किक संबंध का एक रोचक निहितार्थ यह होता है कि बहुत सारी भावनाएं ऐसी होती हैं, जिन्हें छोटे बच्चे महसूस नहीं कर सकते क्योंकि उसके पास उस स्थिति को सही रोशनी में देखने के लिए

जरूरी समझ नहीं होती। आमतौर पर एक वर्ष के बच्चे को कोई ग्लानि नहीं होती और वह कतई पश्चाताप महसूस नहीं करता क्योंकि ग्लानि और पश्चाताप दोनों के लिए अतीत की अवधारणा और समय के अनुसार एक जिम्मेदार व्यक्ति के रूप में अपना बोध होना जरूरी है। आमतौर पर पांच साल के बच्चे को राजनीतिक फैसलों के बारे में कोई भय या बेचैनी नहीं होगी। इसका सीधा कारण यह है कि उसके पास अभी शासन, सत्ता और सामाजिक निहितार्थों जैसी अवधारणाएं नहीं आई हैं। इसी तरह, 8 साल का बच्चा आमतौर पर कान्ट के 'वहां ऊपर तारों भरा स्वर्ग' को देखकर किसी प्रशंसा और आश्चर्य में नहीं पड़ सकता क्योंकि अभी उसके पास न्यूटोनियन यांत्रिकी का प्रासंगिक ज्ञान नहीं आया है।

बेशक, 'भावनात्मक विकास' सिर्फ बौद्धिक विकास का मसला नहीं है, परंतु यह सिर्फ भीतरी उथल-पुथल और बेचैनी भी नहीं है। भावनात्मक विकास अहसासों के निश्चित मूल्यांकनों की रोशनी में

उनके प्रोत्साहन, परिष्कार, दिशा, नियंत्रण और कभी-कभी उनके दमन से होता है। भावनाएं जायज और नाजायज हो सकती हैं, न्यायोचित और गैर-न्यायोचित हो सकती हैं, वांछित और अवांछित हो सकती हैं और ये सभी भावनाएं भावनात्मक विकास तथा नैतिक समझदारी के बीच घनिष्ठ संबंध को दर्शाती हैं (देखें विलियम्स, 1965)।

हमारे नैतिक मूल्यांकनों के अनुसार भावनाओं की शिक्षा में करुणा, प्रेम, अफसोस, उत्तेजना, कृतज्ञता, आत्म-सम्मान और उपलब्धि के गौरव को प्रोत्साहित व परिष्कृत करने पर जोर दिया जा सकता है। इसमें सड़क पार करने, चोट पहुंचा सकने वाली वस्तुओं को इधर-उधर छोड़ देने और बिजली के नंगे तारों को छूने जैसे असली खतरों पर वाजिब हद तक चिंता को बढ़ावा देना शामिल किया जा सकता है। निश्चय ही इसमें उन भावनाओं को बढ़ावा देना भी शामिल होगा जो गणितीय, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक और सौंदर्यात्मक गतिविधियों को कायम रखती हैं और जो समझ के इन स्वरूपों में निहित आलोचनात्मक मूल्यांकन की किस्मों से जुड़ी होती हैं।

भावनाओं की शिक्षा का एक पहलू घृणा, दुर्भावना और निराधार गुस्से जैसी अवांछित भावनाओं को आत्म-नियंत्रण और परिणामों की पूर्वकल्पना के जरिए दबाने का नकारात्मक पहलू भी होता है। दूसरी ओर, जो परिस्थितियां ऐसी भावनाओं को जन्म देती हैं, उनसे

निपटने के लिए उचित आदतें विकसित की जा सकती हैं। हालांकि, दोनों ही विकल्पों से बेहतर यह होगा कि एक ऐसी समझ विकसित की जाए जो आवश्यक होने पर ऐसी भावनाओं को पूरी तरह नष्ट कर सके।

तर्क और भावना के बीच एक अपरिहार्य विरोध के बजाय तथ्यों के जरिए हम ऐसे बहुत सारे संबंध देख सकते हैं जिनसे पता चलता है कि भावनाओं की अवधारणाएं हमारे अहसासों को मूल्यांकनों के साथ तार्किक रूप से जोड़ देती हैं। हमने समझ के जिन रूपों में फर्क किया था, उन पर और गौर से विचार करने के लिए हम यह देख सकते हैं कि भावनात्मक विकास में नीतिशास्त्रीय पहलू केंद्रीय होते हैं। फिर भी, दूसरे सरोकार भी वहां विद्यमान रहते हैं, आंशिक रूप से इसलिए कि उनके साथ संबंधित गतिविधियां अहसासों की जरूरतमंद होती हैं और अहसासों को परिष्कृत करती हैं तथा आंशिक रूप से इसलिए भी कि उनका भावनाओं की विषयवस्तु से संबंधित

सत्य और तर्कदोष के लिए भारी महत्त्व होता है। यह बात तब समझी जा सकती है जब हम यह देखते हैं कि महत्त्वपूर्ण गुणों या परिणामों में से वह क्या है जो हमारे पास होना चाहिए और क्या है जो हमारे पास होना और नहीं होना चाहिए।

बहरहाल, इस बात को मानना होगा कि सुपरिचित विरोध के पीछे कुछ आधार होता है। हमारी भावनाएं ऐसे यथार्थ हैं जो जो नाना ढंग से हमारे बोध, स्मृति और तर्कशीलता को प्रभावित करते हैं। वे हमें गलतबयानी के लिए प्रेरित कर सकती हैं

ताकि किसी को चोट पहुंचाने की इच्छा को वैधता मिल सके। अनचाहे ही वे हमें ऐसी क्रियाओं के लिए उकसा सकती हैं जिन पर बाद में हमें ग्लानि हो और जिनके बारे में यदि हमने पहले सोच लिया होता तो हम उनसे बच जाते। विचार की तर्कशील प्रक्रिया को अस्त-व्यस्त करने या तोड़ने के लिए प्रचारवादी ऐसी भावनाओं को भड़का सकते हैं और उनके साथ खेल सकते हैं। लेकिन ये भावनाओं के रोगों के पहलू हैं, जिनका भावनाओं की शिक्षा से कोई मतलब नहीं है न ही कभी भावनाओं के जरिए तर्क के अस्त-व्यस्त होने का कभी कोई सामान्य औचित्य दिया जा सकता है क्योंकि इस तरह के औचित्य के लिए पहले ही तर्क के प्रति प्रतिबद्धता आवश्यक होगी और वह उसके क्षरण के प्रतिकूल होगी। ♦

भाषान्तर : योगेन्द्र दत्त